

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

वृद्धजन-माहात्म्य प्रकरण

धर्मकृत्येषु वृद्धानां रुचिः स्वाभाविकी मता ।
कुंभपर्वसमेष्वेते समायांत्यधिका अपि ॥ १ ॥
प्रयान्त्यपि च सत्रेषु ते विचार्यातिखिन्नताम् ।
अधिगच्छन्ति किं कार्यमस्माभिरिह संगतैः ॥ २ ॥
जराजीर्णतया नैव केचनापि तु हस्तगाः ।
अधिकाराः कुटुंबस्य वयस्काधिगतास्तु ते ॥ ३ ॥
उपेक्षितातिथेस्तत्र स्थितिं प्राप्ता इवाद्य तु ।
निर्वाहसुविधामात्रं कथञ्चित्प्राप्नुवन्निह ॥ ४ ॥
यापयन्ति च शून्यास्ते स्थिताः कालं निरंतरम् ।
इति स्थितौ गृहस्थस्य भूमिकां कां वहन्तु ते ॥ ५ ॥
नेदं तेषां मतौ सम्यक् स्थिरतां श्रयति स्म तु ।
अनुभवन्ति समे यत्र निराशां ते निरंतरम् ॥ ६ ॥

टीका—धर्मकृत्यों में वृद्धजनों की स्वाभाविक अभिरुचि रहती है। वे कुंभ पर्व जैसे आयोजन में परलोक साधना की दृष्टि से पहुँचते भी अधिक संख्या में हैं। वे इन सत्रों में पहुँचते तो थे, पर यह सोचकर खिन्न होते थे कि वे करें क्या? जराजीर्ण होने के कारण उनके हाथ में घर-परिवार के कुछ अधिकार भी नहीं रहे, उसे वयस्कों ने सँभाल लिए। वे तो एक उपेक्षित अतिथि के रूप में उस परिकर में रहकर किसी प्रकार निर्वाह की सुविधा भर प्राप्त करते हैं। बैठे-ठाले समय गुजारते हैं। ऐसी दशा में वे गृहस्थ धर्म पालन करने की दृष्टि से क्या भूमिका संपन्न कर सकते हैं, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था और निराशा जैसी अनुभव कर रहे थे ॥ १-६ ॥

वार्द्धक्य जीवन की एक ऐसी स्थिति है, जब व्यक्ति सारा जीवन परिश्रम करने के बाद, सहसा अपने आप को एकाकी, दूसरों पर अवलंबित एवं शरीर बल से क्षीण होने के कारण असमर्थ पाने लगता है। वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। यह तो जीवन का सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस आयु में धार्मिक अभिरुचि होना स्वाभाविक है। व्यक्ति अपना परलोक सुधारने की बात सोचता है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्मकांडों में प्रगतिशील दिशा न मिलने के कारण ऐसे प्रयास बाह्योपचार तक सीमित होकर रह जाते हैं। एक सही मार्ग मिलने की आशा उनमें नए प्राण फूँक देती है। गृहस्थ जीवन संबंधी प्रस्तुत प्रकरण में इन वृद्धजनों का अपनी भूमिका तलाशना एवं उपेक्षा की स्थिति से निकलकर सम्मानस्पद कार्य कर सकने की संभावनाओं के प्रति जिज्ञासा का होना स्वाभाविक ही है।

हृद्गतज्ञः समेषां स महर्षिर्धौम्य उद्गतान् ।
वर्गस्यास्य जनानां तु मनोभावान् समध्यगात् ॥ ७ ॥
निश्चिकाय ततस्तेषां कर्तुं स मार्गदर्शनम् ।
धौम्य उवाच
गृहस्थे वृद्धव्यक्तीनामपि स्थानं महत्त्वगम् ॥ ८ ॥
वर्तते सञ्चितैस्तेऽपि स्वीयैरनुभवैरलम् ।
लाभं बहुभ्यो दातुं तु शक्ता अल्प बला अपि ॥ ९ ॥
परिष्कृताऽथ पक्वा च स्थितिस्तेषां तु मानसी ।
अपेक्षया परेषां हि गृहस्थानां नृणामिह ॥ १० ॥
लाभमस्य कुटुम्बं तत्प्राप्नुयान्नैव केवलम् ।
क्षेत्रं संपूर्णमेवापि संसारश्चाप्नुयात्समः ॥ ११ ॥
वाञ्छेयुर्यदि ते तर्हि नवेन विधिना नवम् ।
जीवनं प्राप्नुमर्हन्ति तथा कार्यक्रमं नवम् ॥ १२ ॥
स्वीकृत्यान्यं नवेक्षेत्रे प्रवेष्टुं शक्नुवंत्यपि ।
इत्थं च समयस्तेषां सञ्चितोऽनुभवस्तथा ॥ १३ ॥
यूनामपेक्षया नूनमधिकं सेत्स्यतो ध्रुवम् ।
लोकोपयोगिनौ भद्रा अत्र नास्त्येव संशयः ॥ १४ ॥
आत्मलाभदृष्ट्या च समयोऽयं तु विद्यते ।
भाग्योदयस्य कर्तव्यं सुयोग्यो योग उच्यताम् ॥ १५ ॥

टीका—सबके मन की बात जानने वाले महर्षि धौम्य ने इस वर्ग के लोगों के मनोभाव जाना और उनका मार्गदर्शन करने का निश्चय किया।

महर्षि धौम्य बोले, गृहस्थ में वयोवृद्धों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वे अपने संचित अनुभवों से बहुतों को लाभ दे सकते हैं। शारीरिक क्षमता घट जाने पर भी उनकी मानसिक स्थिति अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत-परिपक्व होती है। इसका लाभ उस परिवार को ही नहीं, समस्त क्षेत्र एवं संसार को मिलना चाहिए। वे चाहें, तो नए सिरे से नया जीवन जी सकते हैं, नया कार्यक्रम अपना सकते हैं, नए क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। हे भद्रजनो इस प्रकार उनका बचने वाला समय और संचित अनुभव तरुणों की अपेक्षा और भी अधिक लोकोपयोगी सिद्ध हो सकता है। आत्मलाभ की दृष्टि से वह समय उनके लिए भाग्योदय जैसा सुयोग्य है ऐसा कहा जा सकता है ॥ ७-१५ ॥

कथा प्रसंग में उपस्थित वृद्धवर्ग की मनःस्थिति के अनुरूप ही प्रतिपादन आरंभ करते हुए महर्षि धौम्य गृहस्थ जीवन में उनकी गरिमा एवं महत्ता को जन सामान्य को समझाने हेतु आतुर प्रतीत होते हैं। वृद्धावस्था में कृशकाय असमर्थ होने के कारण परावलंबी एवं निरुपयोगी होने की, हीन भावना को मन से निकाल बाहर फेंकने एवं क्रियाशील बने रहने चलते

३.३६ प्रज्ञोपनिषद्

रहते और आत्म कल्याण की विकास यात्रा में आगे बढ़ते रहने के लिए ऋषिभर उन्हें प्रोत्साहित करते तथा उनकी प्रसुप्त क्षमताओं का उन्हें बोध कराते हैं। वृद्धावस्था आ घेरने का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य निरुत्साहित होकर हाथ पर हाथ रखे, मृत्यु का इंतजार करे। जीवन एक महान यात्रा है, जिसकी सुघड़ता सदैव चलते रहने में है। जब तक हम चलते रहते हैं, तब तक हमारी शक्तियों का उपयोग होता रहता है। जहाँ रुके, वहीं मौत है, वहीं जुड़ता है। चलना, उन्नत होना और आगे बढ़ना जीवन्त होने का प्रतीक है। वेद भगवान कहते हैं

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतौऽनम्।

अर्थात्—जीवन के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि उसे रुकना नहीं चाहिए। उन्नत होना और आगे बढ़ना जीवन का स्वाभाविक धर्म है।

चलते रहना, क्रियाशील बने रहना, सृष्टि का सनातन नियम है। समस्त प्राणिवर्ग एवं प्रकृति के घटक में यह स्पंदन मुखरित हो रहा है। नदियाँ अपने अल्प और सीमित स्वरूप से उस अनंत विराट् सागर की ओर दौड़ी जा रही हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अपनी उतुंग चोटियों को फैलाए उस सर्वव्यापी सत्ता की ओर देख रहे हैं, मानों उन्हें अपना स्वरूप अल्प सीमित जान पड़ रहा है। जान पड़ता है वे भी उतने ही विराट्, अनंत महान् बनने की चिर प्रतीक्षा में खड़े हैं। बीज अपने क्षुद्र और साधारण स्वरूप से संतुष्ट नहीं होता और वह अपने आवरण को तोड़, फूट निकलता है। महत् की ओर। उसकी यात्रा जारी रहती है और वह विशाल वृक्ष बन जाता है। फिर भी उसकी विपुल महत् बनने की साध रुकती नहीं और वह सुंदर फूलों से खिल उठता है, मधुर फूलों में परिणत होता हुआ, अपनी सत्ता को असंख्यों बीजों में परिणत कर देता है। उधर देखिए, उस पक्षी शावक को उसे नीड़ या संकीर्ण आवरण तुच्छ जान पड़ता है। वह अपने पंखों में फुरफुरी भर रहा है। नीड़ के दरवाजे से अखिल विश्व भुवन की ओर देख रहा है, जिसकी अनंत गोद में वह किलोल करना चाहता है और देखो, निकल पड़ा, वह सीमित अल्प आवरण को त्यागकर अनंत महत् की ओर।

अल्प से महत् की ओर अग्रसर होने की यह क्रिया सर्वत्र हो रही है। फिर चेतन और ईश्वर का वरिष्ठ राजकुमार कहलाने वाला मनुष्य ही बार्द्धक्यता को जीवन यात्रा में बाधक मानकर अपनी प्रगति यात्रा क्यों बंद कर दे? नहीं उसे जीवन को एक संग्राम मानकर मोरचे पर खड़े एक कर्तव्यनिष्ठ और कर्मठ सिपाही की भाँति संघर्ष करना और बढ़ते ही जाना है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है

“नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति.....पापो नृषद्वरो

जन इंद्र इच्छरतः सखा। चरैवेति चरैवेति ॥

अर्थात् जो चलता है उसकी जंघाएँ पुष्ट बनी रहती हैं। फल प्राप्ति तक उद्योग करने वाला व्यक्ति पुरुषार्थी होता है। प्रयत्नशील पुरुष के पाप-ताप, भवबंधन मार्ग में ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

वृद्धावस्था में व्यक्ति के पास जीवन भर के अनुभवों की थाती जो अपने पास होती है। अनेकों प्रसंगों के माध्यम से उन्होंने जीवन रूपी प्रयोगशाला में इतना कुछ सीखा समझा होता है, कि उस मार्गदर्शन से वे सारे समुदाय को लाभ दे सकते हैं। एक बार सक्रिय उपार्जन प्रधान जीवन समाप्त होने पर आयुष्य के इस मोड़ पर वे अपने जीवन को एक नई दिशा देकर, लोक सेवी व्रत अपनाकर सारे परिकर को समाज को प्रभावित कर सकने की क्षमता रखते हैं।

पक्वं फलं सदा शाखां विहायान्यस्य प्राणिनः।

उपयोगाय संयाति तथैवाऽत्रापि चायुषि ॥ १६ ॥

युक्तं परिणते एव वानप्रस्थग्रहो नृणाम्।

विद्यते शाश्वतीयं च भारतीया परंपरा ॥ १७ ॥

पुण्यार्जनस्य कालोऽयं परस्मै जन्मने तथा।

ऋणं सामाजिकं दातुं गृह्णातुं श्रेय आत्मनः ॥ १८ ॥

लोगमंगलजं नूनं महत्त्वानुगतो ध्रुवम्।

धौम्यः संबोधयामास नरान् परिणतायुषः ॥ १९ ॥

निष्क्रियत्वात्तथा तान् स सक्रियत्वस्य चाप्तये।

बोधयामास भूयश्च कथयामास यत्समे ॥ २० ॥

निराशां परिणतां कुर्युरुत्साहे कर्म यत्कृतम्।

नाद्यावधि प्रकुर्वन्तु सोत्साहं विश्वमंगलम् ॥ २१ ॥

आधारेण च तेऽनेन मुक्ता भृत्योर्भयात्समे।

जीवन्मुक्तं मुदं यान्तु दृष्टिकोणं च दिव्यकम् ॥ २२ ॥

टीका—पका हुआ फल डाली छोड़कर अन्यो के काम आने के लिए चला जाता है। इसी प्रकार ढलती आयु में वानप्रस्थ धर्म अपनाता ही उचित है। यही भारतीय शाश्वत परंपरा भी है। यह समय अगले जन्म के लिए पुण्यफल संचय करने, वर्तमान में समाज का ऋण चुकाने एवं लोकमंगल का श्रेय लेने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व का है। महर्षि धौम्य ने आज अधेड़ आयु वालों को विशेष रूप से संबोधित किया। उन्हें निरर्थकता में सार्थकता उत्पन्न करने का परामर्श दिया और कहा कि वे निराशा को उमंगों में बदलें और विश्वमंगलमय वह काम करें जो अब तक कर नहीं पाए। इस आधार पर वे मृत्यु भय से छूटेंगे और स्वर्गीय दृष्टिकोण तथा जीवन्मुक्त स्तर का आनंद हाथों हाथ उपलब्ध करेंगे ॥ १६-२२ ॥

देव संस्कृति की विशेषता है जीवनावधि का चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में विभाजन।

इनमें से दो व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए और दो सामाजिक विकास के लिए निर्धारित हैं। सारी उम्र मनुष्य अपने लिए परिवार के लिए मरता-खपता है, उपार्जन उपभोग में ही उसका अधिकांश समय निकल जाता है। समाज के जिन अवयव घटकों के सहारे उसने यह सुविधा भरा जीवन जिया, उनके लिए भी उसके कुछ कर्तव्य हैं। ढलती आयु में वानप्रस्थ धारण किया जाए और घर परिवार को आवश्यक मार्गदर्शन सहयोग देते हुए अधिकांश समय समाज सेवा में लगाया जाए। यही प्रेरणा सद्गृहस्थों वृद्धजनों को महर्षि धौम्य देते हैं।

जीवन का आधा भाग उत्तरार्द्ध विशुद्ध रूप से लोकमंगल में नियोजित रखे जाने की शास्त्रीय मर्यादा है। इस परंपरा के निर्वाह से अनेकों प्रयोजन पूरे होते हैं। मोह बंधन का परिवार वाला घेरा टूटता है एवं व्यक्ति विराट् ब्रह्म का एक अंग बनकर लोकोपयोगी कार्यों में स्वयं को नियोजित करता है। इससे शेष बचा जीवन तो धन्य होता ही है, अगले जन्मों के लिए पुण्य की संपदा एकत्र हो जाती है। लोक सेवा में लगा व्यक्ति जीते जी मुक्ति का आनंद इसी जीवन में उठा लेता है। उसके हृदय में विस्तृत विराट् के प्रति प्रेम, वाणी में माधुर्य, व्यवहार में सरलता, नारी मात्र में मातृत्व की भावना कर्म में कला और सौंदर्य की अभिव्यक्ति सभी के प्रति उदारता और सेवा भावना, गुरु जनों का सम्मान, स्वाध्याय सत्संग में रुचि, शुचिता श्रमशीलता जैसे सद्गुण अभ्यास द्वारा स्वभाव के अंग बन जाते हैं।

प्रौढा अनुभवंत्वत्र समये चिंतयन्त्वपि ।
अनुशासनमेतस्या दिव्याया देवसंस्कृतेः ॥ २३ ॥
पालयिष्याम एनं च धर्मं त्वाश्रमजं सदा ।
आयुषोऽप्युत्तरार्धं च निश्चिन्वन्तु परार्थकम् ॥ २४ ॥
सुविभाजनरेखेयमात्मकल्याणतस्तथा ।
विश्वकल्याणतोऽप्यस्ति श्रेयः संपादिका ध्रुवम् ॥ २५ ॥
विभाजनेऽस्मिन् स्वार्थस्य परार्थस्यापि विद्यते ।
समावेशो हि सम्यक् सिद्ध्यन्त्येतेन पूर्णतः ॥ २६ ॥
प्रयोजनानि संस्कारव्यवहारगतान्यथ ।
परात्मनः प्रसादाय चात्मनः काल आप्यते ॥ २७ ॥
पुरातनस्य कालस्य दिव्या वातावृत्तिस्तु सा ।
अस्याः परंपराया हि उपहार इव स्मृतः ॥ २८ ॥
सा च प्रचलिता यावत् तावद् भूमिरियं स्मृता ।
जगन्मंगलमूलेव स्वर्गादपि गरीयसी ।
निवासिनोऽपि चात्रत्याः त्रयस्त्रिंशत्तु कोटिकाः ।
अभूवन् परितः देवास्ते हि सम्मानिता अपि ॥ ३० ॥

टीका—प्रौढ़ों में से प्रत्येक को समय रहते यह अनुभव करना है कि वे देवसंस्कृति के अनुशासन को ध्यान में रखेंगे।

आश्रम धर्म का पालन करेंगे और आयु का उत्तरार्द्ध परमार्थ प्रयोजन के लिए निर्धारित रखेंगे। यह विभाजन रेखा आत्मकल्याण और विश्वकल्याण दोनों ही दृष्टि में परमश्रेयस्कर है। इस विभाजन में स्वार्थ और परमार्थ का संतुलित समावेश है। इससे सांसारिक प्रयोजन भी पूरे होते हैं और आत्मा-परमात्मा को प्रसन्न करने का भी अवसर मिलता है। पुरातनकाल का सतयुगी वातावरण इसी परंपरा की देन था, जब तक वह प्रचलित रही, तब तक जगत् के कल्याण की भूमि स्वर्गादपि गरीयसी बनी रही और यहाँ के निवासी सर्वत्र तैंतीस कोटि देवता माने जाते तथा सम्मानित होते रहे ॥ २३-३० ॥

आयुष्य के आश्रम विभाजन के मूल में गहरा तत्त्वदर्शन है। व्यक्ति का स्वयं का तो इसमें हित है ही, समष्टिगत कल्याण भी इससे सधता है। व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त होकर निठल्ला नहीं बनता, वरन् और भी बड़े समुदाय के लिए उत्तरदाई हो जाता है। गृहस्थ जीवन का दायित्व पूरा होते ही समाज क्षेत्र में आराधना के निमित्त निकल पड़ना, देव संस्कृति की पुनीत परंपरा रही है। सतयुग में यह प्रथा जीवित थी, अतः कहीं कोई विग्रह नजर नहीं आता था, न लोकसेवियों की कमी ही पड़ती थी। आज भी उसी परंपरा के पुनर्जागरण की आवश्यकता है।

एतदर्थं मतं चैतत्परमावश्यकं नृणाम् ।
शिशवो ह्यल्पसंख्यायामुत्पन्नाः स्युर्गृहे गृहे ॥ ३१ ॥
विवाहस्याल्पकालाच्च पश्चात्प्रजननं स्वतः ।
अवरोद्धव्यमर्थं तु व्यतीते चायुषो यतः ॥ ३२ ॥
शिशुदायित्वमुक्तिः स्यात् प्रत्येकस्य शिशोर्हृदि ।
स्थापनीयमिदं देयं तेनर्ण पैतृकं महत् ॥ ३३ ॥
इदं तैरिह कर्तव्यमृणमुक्त्यै निरंतरम् ।
अनुजानां सुनिर्वाहः शिक्षाऽथ स्वावलंबनम् ॥ ३४ ॥
पितुरुत्तरदायित्वेष्वत्र जेष्ठैः सुतैः सदा ।
सहयोगो विधातव्योऽनृणैर्भाव्यमिहोत्तमैः ॥ ३५ ॥
ऋणं तिष्ठेन्न पित्रोस्तद् वयस्कानां कृते त्विदम् ।
शास्त्राणां विद्यते ह्याज्ञा धार्मिकी च परंपरा ॥ ३६ ॥
यथोत्तराधिकारस्तु पितुः पुत्रैरवाप्यते ।
तथैवोत्तरादायित्वं ते वहंतु च पैतृकम् ॥ ३७ ॥
अनुजानां तथाऽशक्तजनानां पोषणादिकम् ।
तथा कार्यं यथा पित्रा कृतं ज्येष्ठसुतस्य तत् ॥ ३८ ॥

टीका—इस तैयारी के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक घर में बच्चे कम संख्या में हों। विवाह के कुछ समय उपरांत ही प्रजनन बंद कर दिया जाए, ताकि आधी आयु होने तक बच्चों के उत्तरदायित्व से निपटा जा सके। हर बालक के मन में आरंभ से ही यह बिठाया जाए कि उन्हें महान् पितृ ऋण चुकाना है। यह ऋण चुकाने का कार्य अपने छोटे भाई-

३.३८ प्रज्ञोपनिषद्

बहिनों के निव्राह एवं शिक्षा स्वावलंबन के रूप में करना होता है। पिता के उत्तरदायित्वों में हाथ बँटाना, बड़े बच्चों का कर्तव्य है। ऋणी किसी का भी नहीं रहना चाहिए। माता-पिता का भी नहीं यह वयस्क बालकों के लिए शास्त्रों का अभिवचन है। यही धर्म परंपरा भी है। पिता का उत्तराधिकार जहाँ बच्चों को मिलता है, वहाँ उनके शेष उत्तरदायित्वों का भी परिवहन करें। छोटे भाई-बहिनों, घर के वृद्ध या अशक्त जनों का भरण-पोषण उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे कि पिता ने ज्येष्ठ पुत्र का किया है ॥ ३१-३८ ॥

टीका—इस तैयारी के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक घर में बच्चे कम संख्या में हों। विवाह के कुछ समय उपरांत ही प्रजनन बंद कर दिया जाए, ताकि आधी आयु होने तक बच्चों के उत्तरदायित्व से निपटा जा सके। हर बालक के मन में आरंभ से ही यह बिठाया जाए कि उन्हें महान् पितृ ऋण चुकाना है। यह ऋण चुकाने का कार्य अपने छोटे भाई-बहिनों के निर्वाह एवं शिक्षा स्वावलंबन के रूप में करना होता है। पिता के उत्तरदायित्वों में हाथ बँटाना, बड़े बच्चों का कर्तव्य है। ऋणी किसी का भी नहीं रहना चाहिए। माता-पिता का भी नहीं

मानव जीवन किन्हीं उद्देश्य विशेषों के लिए मिला है। पशुओं की तरह स्वच्छंद जीवन बिताकर निरंतर यौनाचार में निरत रहना मानवी गरिमा के प्रतिकूल है। वानप्रस्थ आश्रम में उपयुक्त समय पर प्रवेश कर स्वयं को लोक सेवा में प्रवृत्त किया जा सके, इसके लिए अनिवार्य है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही भावी जीवन की योजना बना ली जाए। यदि प्रजनन जल्दी बंद कर दिया जाए तो लौकिक जीवन से निवृत्त लेने की अवधि के पूर्व ही उन दायित्वों से मुक्त हुआ जा सकता है, जो संतानों से जुड़ी है। मात्र अपनी जिम्मेदारी पूरी करना ही काफी नहीं, बच्चों के मनो में प्रारंभ से ही संस्कार डाला जाना चाहिए कि आगे चलकर उन्हें पिता के दायित्वों को सँभालना, अपनों से छोटों का भरण-पोषण कर उन्हें स्वावलंबी बनाना है। इतना किए बिना वे उस ऋण से मुक्त नहीं हो सकते, जो उन पर पिता के उपकारों के कारण चढ़ा रहता है। उत्तराधिकार मात्र धन संपदा का ही नहीं होता उन जिम्मेदारियों का भी होता है, जो कभी पिता ने पूरी की व अब संतानों को पूरा करना चाहिए।

ज्येष्ठा तु संततिर्यहि गृहकार्यं विभर्त्यलम्।

व्यतीतार्थायुषा कार्यं पुरुषेण ततः स्वयम् ॥ ३९ ॥

स्वकर्तव्यधिया शेषसदस्यानां सुरक्षया।

भरणेन सहैवात्र परार्थं कर्म चाधिकम् ॥ ४० ॥

प्रयोजनेषु देयं च ध्यानमध्यात्मकेष्वपि।

पत्नी कुर्याच्च कार्याणि गृहस्थस्य समान्यपि ॥ ४१ ॥

इच्छुका सा सुयोग्या च यदि तत्साऽपि सादरम्।

प्रयोजनेषु नेयैव परार्थेषु सहैव तु ॥ ४२ ॥

परंपरेयं प्रोक्ता च वानप्रस्थाभिधानतः।

इमं च निर्वहेद् धर्मं गृहस्थमिव सर्वदा ॥ ४३ ॥

टीका—बड़ी संतान जब गृहकार्य सँभालने लगे, तो अधेड़ का कर्तव्य हो जाता है कि परिवार के शेष सदस्यों की देखभाल करने के साथ-साथ अपने समय का अधिकांश भाग परमार्थ प्रयोजनों के लिए निकालने लगे। अध्यात्म प्रयोजनों की ओर अधिक ध्यान दे। यदि वह इच्छुक और सुयोग्य हो, तो उसे भी परमार्थ प्रयोजनों में साथ रखे। इसी का नाम वानप्रस्थ है। इसका निर्वाह गृहस्थ धर्म के निर्वाह की तरह ही आवश्यक है ॥ ३९-४३ ॥

गृहस्थान्निवृत्तेर्वानप्रस्थे प्रवृत्तिकस्य च।

मध्ये कर्तुं स्वभावे तु परिवर्तनमप्यथ ॥ ४४ ॥

भावो जीवनजं नव्यं स्वरूपं ज्ञातुमुत्तमम्।

आरण्यके तु कस्मिंश्चित् साधनायां रतैरैः ॥ ४५ ॥

भाव्यं कार्यं च पापानां प्रायश्चित्तं तु कर्मणाम्।

साधनां च प्रकुर्वीत स्वभावं परिवर्तितुम् ॥ ४६ ॥

प्रयोजनानां योग्यानां लोकमङ्गलकारिणाम्।

प्रशिक्षणानि सर्वैश्च प्राप्तव्यानि नैरिह ॥ ४७ ॥

परिवर्तितुमेनं च जीवनस्य क्रमं त्विमम्।

आवश्यकं मतं वातावृत्तेश्च परिवर्तनम् ॥ ४८ ॥

आरण्यकाश्रमाणां च वातावरणमुत्तमम्।

एतदर्थं भवत्येव लोकमङ्गलयोजितम् ॥ ४९ ॥

आरण्यकानां मध्ये च वानप्रस्थसुसाधनाम्।

कृत्वैव लोककल्याणपुण्यकार्यं विधीयताम् ॥ ५० ॥

प्रत्येकस्मिन्नवीने च क्षेत्रे प्रविशता सदा।

प्राप्तव्यमनुकूलं च प्रशिक्षणमिह स्वयम् ॥ ५१ ॥

टीका—गृहस्थ से निवृत्ति और वानप्रस्थ में प्रवृत्ति के मध्यांतर में स्वभाव परिवर्तन और भावी जीवन का नया स्वरूप समझने के लिए किसी आरण्यक में जाकर साधना रत होना चाहिए। गृहस्थ में बन पड़े पाप कर्मों का प्रायश्चित्त करें। स्वभाव परिवर्तन के लिए साधना करें। लोकमङ्गल के विविध प्रयोजनों के उपयुक्त प्रशिक्षण प्राप्त करें। जीवन क्रम बदलने के लिए वातावरण बदलना आवश्यक है। इसके लिए आरण्यक आश्रमों का प्रेरणाप्रद वातावरण उपयुक्त पड़ता है। चूँकि उसका संयोजन ही लोकमङ्गल की दृष्टि से किया हुआ होता है। आरण्यकों की मध्यांतर, वानप्रस्थ साधना के उपरांत लोकमङ्गल के पुण्य प्रयोजनों में संलग्न होने की विद्या अपनाएँ। हर नए क्षेत्र में प्रवेश करने वाले को तदनुरूप प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता है ॥ ४४-५१ ॥

विगत में व्यतीत किया गृहस्थ जीवन अपनी लंबी अवधि

के संस्कार मन-मस्तिष्क पर, स्वभाव-व्यवहार पर छोड़ देता है। अब जब नया जीवनक्रम आरंभ करना है, तो हर प्रौढ़ को अपने आपको नई परिस्थिति के अनुरूप ढालने हेतु तपाना, गलाना पड़ता है। जो गलत कार्य बन पड़े, उनका प्रायश्चित्त किए बिना, क्षतिपूर्ति किए बिना, नए आश्रम में प्रवेश संभव नहीं। यदि वानप्रस्थ ले भी लिया, तो लाभ नहीं क्योंकि मस्तिष्क पर सदैव पुराना चिंतन हावी होता रहेगा। इसके लिए ऋषिगणों ने आदिकाल से आरण्यक व्यवस्था का प्रावधान किया है। इन आरण्यकों में निवृत्त गृहस्थों के लिए साधना हेतु उपयुक्त वातावरण रहना अनिवार्य है। जब परिमार्जन पूरा हो, तो नए सिरे से प्रशिक्षण द्वारा अपने को लोकसेवी के रूप में विकसित करें। इतनी प्रक्रिया पूरी होने पर ही वानप्रस्थ जीवन की सार्थकता है, तभी तो लोकसेवा में दत्तचित्त होकर लगा जा सकेगा।

प्रब्रज्यायां हि योग्यत्वं सुविधाऽपि च विद्यते।
 येषां ते तीर्थयात्रार्थं यांतु धर्मोपदिष्टये ॥५२॥
 प्रत्येकेन जनेनात्र साध्यः संपर्क उत्तमः।
 अनुन्तेषु गंतव्यं क्षेत्रेष्वेवं क्रमान्तरैः ॥५३॥
 रात्रौ यत्र विरामः स्यात्तत्र कुर्यात्कथामपि।
 कीर्तनं चोपदेशं सत्संगं यत्नेन पुण्यदम् ॥५४॥
 तीर्थयात्रा तु सैवास्ति योजनाबद्धरूपतः।
 वातावृतिर्भवेद् यत्र निर्मिता धार्मिकी तथा ॥५५॥
 सदाशयस्य यत्र स्यात्पक्षगं लोकमानसम्।
 पोषणं सत्प्रवृत्तीनां भवेद् यत्र निरंतरम् ॥५६॥
 तीर्थयात्रासुरूपे च प्रब्रज्यारतता त्वियम्।
 वर्तते वानप्रस्थस्य श्रेयोदा साधना शुभा ॥५७॥

टीका—जिनकी योग्यता एवं सुविधा प्रब्रज्या के उपयुक्त हो, वे धर्म प्रचार की तीर्थयात्रा पर निकलें। जन-जन से संपर्क साधें। पिछड़े क्षेत्रों में परिभ्रमण करें। जहाँ रात्रि विराम हो, वहाँ कथा-कीर्तन, प्रवचन-सत्संग का आयोजन करें। धर्म धारणा का वातावरण उभारते, लोकमानस को सदाशयता का पक्षधर बनाते सत्प्रवृत्तियों का परिपोषण करते योजनाबद्ध यात्रा पर निकलने को तीर्थयात्रा कहते हैं। तीर्थयात्रा के रूप में प्रब्रज्यारत रहना वानप्रस्थ की परम श्रेयस्कर साधना है ॥ ५२-५७ ॥

गृहस्थ धर्म से निवृत्ति के बाद वातावरण परिवर्तन का माहात्म्य ऋषि ने अभी-अभी समझाया है। अब वे कहते हैं कि वानप्रस्थों को धर्मधारणा का जन-जन तक विस्तार करने के लिए तीर्थयात्रा पर निकलना चाहिए। यह मात्र पर्यटन कौतुक के लिए न हो, अपितु सोद्देश्य हो। एक बार आरण्यक में शिक्षण प्राप्त कर लेने के बाद व्यावहारिक सेवा धर्म की साधना समाज क्षेत्र में करने हेतु सभी को उद्यत रहना चाहिए।

तीर्थयात्रा क्रमबद्ध हो, पहले से ही उसके गंतव्यों, कार्यक्रमों एवं उद्देश्यों का योजनाबद्ध निर्धारण कर लिया गया हो। जन-जन में श्रेष्ठता की भावनाएँ भरने के समकक्ष और कोई बड़ी सेवा-साधना नहीं है। एक और बात जो विशेष रूप से यहाँ बताई जा रही है, वह यह कि जहाँ तक संभव हो ऐसी सेवा-साधना पिछड़े क्षेत्रों में संपन्न की जाए। जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुँचा, दुष्प्रवृत्तियाँ एवं अभाव ही जहाँ संव्याप्त है, वहाँ अपनी सेवाएँ देना सार्थक है।

देहात अभी भी नवयुग के प्रकाश से वंचित है। वहाँ तक पहुँचने में सेवाभावी वानप्रस्थ तीर्थयात्रियों की धर्म प्रचार टोलियाँ ही समर्थ हो सकती हैं।

कस्मादपि च हेतोस्तु येषां वासोऽधिकं नहि।
 बहिः संभव एतेऽपि निवासं स्वं तु सद्मनि ॥५८॥
 स्वीकुर्वतु कुटुंबस्य सामान्यं हि निरीक्षणम्।
 दायित्वस्य धिया चात्र परिवारव्यवस्थितिम् ॥५९॥
 कार्यं स्वं प्रमुखं ते च लोकमंगलमेव तु।
 मन्यन्तां तेषु कार्येषु रुचिं गृह्णन्तु चाधिकाम् ॥६०॥
 अधिकं समयं तत्र समीपतरवर्तिषु।
 क्षेत्रेषु वाहयन्त्येवं सदैवैभिर्निमित्तकैः ॥६१॥
 कार्यक्रमेषु तत्रैवं विधेयमेव तथाऽऽयुषः।
 उत्तरार्द्धं जीवनस्य व्ययीकर्तव्यमुत्तमैः ॥६२॥

टीका—जिनका कारणवश बाहर रह सकना संभव न हो, वे निवास तो घर पर ही रखें, पर उत्तरदायित्व, परिवार की देखभाल और व्यवस्था भर को सँभालें। अपना प्रमुख कार्य तो लोकमंगल को समझें। इन कार्यों में विशेष रुचि लें और समय का बड़ा अंश इस निमित्त समीपवर्ती क्षेत्रों में ही लगाते रहें। ऐसे ही कार्यक्रमों में संलग्न होकर उत्तम पुरुषों को अपने जीवन का उत्तरार्द्ध बिताना चाहिए ॥ ५८-६२ ॥

अपनी जिम्मेदारियों के पूरा होने के बाद अनिवार्य नहीं कि सभी घर छोड़कर चल दें एवं तीर्थाटन कर जन-जन तक विचारधारा का प्रसार करें। जिनसे यह संभव हो, अवश्य करें। पर जन कल्याण के कार्य घर पर रहकर भी संभव हैं। सारा जीवन उपार्जन में बिता दिया। अब शेष बचे समय को नष्ट होने से बचाना चाहिए एवं जहाँ तक संभव हो, स्वयं को उस पुण्य परमार्थ में नियोजित कर देना चाहिए, जिससे अपने आस-पास का परिकर ही लाभांशित होता रहे।

विगतार्थायुषा पुसां वर्गेणैवं न वंशजाः।
 कुटुंबत्वेन विज्ञेयाः केवलं परमत्र तैः ॥६३॥
 आत्मीयताऽपि वृद्धिः सा कर्तव्या क्रमशश्च ते।
 प्रतिवेशिन एवं च सर्वान् परिचित्तास्तथा ॥६४॥
 अज्ञातानपि मन्येरन् परिवारगतानिव।
 अल्पेभ्यो वंशजेभ्यो न जीवनं यापयंतु ते ॥६५॥

३.४० प्रज्ञोपनिषद्

समयस्य बृहद्भागं जनान् सर्वान् कुटुंबिनः ।
 विशालक्षेत्रगान् मत्वा तेषां तत्र समाहितौ ॥ ६६ ॥
 समस्यानां तथा तेषामभ्युत्थानविधावपि ।
 व्ययं कुर्युर्निषिद्धात्र पश्चिमायुषि संततिः ॥ ६७ ॥
 विचारपरिवारे तु वंशवृद्धिः सुसंभवा ।
 मता वसन् कुटुंबे च तत्र संरक्षको भवेत् ॥ ६८ ॥
 आधिपत्यं स्थापयेन् सन्मार्गं शिक्षयेदपि ।
 खिन्नतां न व्रजेत्तत्रोपेक्षिते शासने निजे ॥ ६९ ॥
 यथाऽन्येषु जनेष्वत्र मन्यतेऽप्येनुशासनम् ।
 बहवो नापि चान्ये तु तत्र नो खेदसंस्थितिः ॥ ७० ॥
 जायते तद्वदेवात्र मान्यता हि कुटुंबजे ।
 संबंधे पुरुषैः सर्वैर्ज्ञातव्या सुखदायिनी ॥ ७१ ॥

टीका—अधेड़ व्यक्ति मात्र अपने वंशधरों को ही कुटुंबी न समझे, वरन् आत्मीयता के क्षेत्र का विस्तार करें। पड़ोसी, संबंधी एवं परिचितों अपरिचितों को भी कुटुंबवत् मानें। थोड़े से कुटुंबियों के लिए ही न मरते-खपते रहें। समय का एक बड़ा भाग विशाल क्षेत्र में फैले हुए जन समुदाय को अपना कुटुंब मानते हुए, उनके समाधान एवं अभ्युत्थान के लिए लगाते रहें। जीवन के उत्तरार्द्ध में संतानोत्पादन वर्जित है। विचार परिवार के रूप में वंशवृद्धि करते रहने की छूट है। परिवार में रहते हुए भी अपनी स्थिति उस परिकर के संरक्षक जैसी रखें। आधिपत्य न जमाएँ। सन्मार्ग की शिक्षा तो देते रहें, पर न मानने पर मन को खिन्न न करें। जिस प्रकार अन्य लोगों में बहुत से परामर्श को मानते हैं, बहुत से नहीं मानते, तो भी खेद नहीं होता। यही सुखदाई मान्यता घर-परिवार के संबंध में भी रखें ॥ ६३-७१ ॥

मात्र अपने परिवार के, जाति-वंश के व्यक्ति यों को अपना समीपवर्ती मानना, इन्हीं के प्रति अपनी निष्ठा सद्भावना होना, व्यक्ति का सीमित परिधि में समाया हुआ, मोहभाव भर है। वस्तुतः हम निखिल विश्व के, विराट् परिवार के एक अंग हैं। हम सभी के उत्थान आत्मिक प्रगति के लिए उत्तरदाई हैं। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम् की शास्त्र उक्ति पर चलते हुए हमें अपने विचार परिकर का निरंतर विस्तार करते रहना चाहिए। जैसे-जैसे हृदय में उदार आत्मीयता का विस्तार होगा, आयु के ढलते जाने पर भी, अपने परिवार के सदस्यों के अपने-अपने दायित्वों के कारण सुदूर स्थानों पर होते रहने पर भी परिवार छोटा नहीं लगेगा। स्वार्थ-परमार्थ में परिणत होगा एवं सारा विश्व, सारा समुदाय अपना परिवार एवं कार्यक्षेत्र प्रतीत होने लगेगा।

एक बात वृद्धजनों के लिए और भी ध्यान में रखने योग्य है। वह यह है कि स्वयं को परिवार के ट्रस्टी के रूप में एक संरक्षक, उत्तरदायी सदस्य मानना, न कि उसका मालिक

स्वयं को समझ बैठना। सत्परामर्श देते रहना उनका पुनीत कर्तव्य है, किंतु कोई उस पर न चले, तो इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं। यह मान्यता विकसित होने पर ही एक लोकसेवी के रूप में विकास अभ्युदय संभव है।

वंशजा अर्थदृष्ट्या चेत् स्वावलंबं गतास्तदा ।
 सद्वाप्रयोजनेभ्यस्तु संपदा दीयतां स्वयम् ॥ ७२ ॥
 अर्जितं यत्समं तच्च प्राप्नुवंतु कुटुंबगाः ।
 आवश्यकं न चैतत्तु परं ये स्वाश्रिता नहि ॥ ७३ ॥
 अधिकारिण एते हि स्वाभिभावकसंपदः ।
 विराड्ब्रह्मस्वरूपाय समाजाय यथा नृणाम् ॥ ७४ ॥
 कृतं जीवनदानं तत् कालदानं भवेदिह ।
 तथा कुटुंबदायित्वावशिष्टं लोकभूतये ॥ ७५ ॥
 परंपरेयमेवास्ति धार्मिकानां विवेकिनाम् ।

पुण्यदा येन भूरेषा देवभूमिर्निगद्यते ॥ ७६ ॥
 टीका—वंशजीवी यदि आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी हो गए हैं, तो अपनी संपदा सत्प्रयोजनों में लगा दें। जो कमाया जाए, वह सब घर वालों को ही मिले, आवश्यक नहीं। जो स्वावलंबी नहीं, मात्र वे ही अभिभावकों के उपार्जन को उपलब्ध करने के अधिकारी हो सकते हैं। जिस प्रकार विराट् ब्रह्म जनसमाज को समयदान, जीवनदान दिया गया है, वैसे ही पारिवारिक उत्तरदायित्व निर्वाह के उपरांत बचा हुआ धन भी लोकमंगल के लिए समर्पित होना चाहिए। यही विचारशील धर्म परायणों की पुण्य परंपरा है, जिससे यह भूमि सदा देवभूमि कही गई है ॥ ७२-७६ ॥

घर वालों तक ही अपने कुटुंब की सीमा मानने वाले अपना स्नेह दुलार ही नहीं, धन-संपदा का अधिकार भी उन्हीं तक सीमित मानते हैं। अपनी संतानों को स्वावलंबन का शिक्षण दिया जाए, वे उत्तराधिकार में मिलने वाली पूँजी पर निर्भर न रहें। उन्हें यह संस्कार दिए जाएँ कि जो धन समाज के एक-एक घटक के सहयोग से जुटाया गया है, उसका सुनियोजन यथासंभव समाज सेवा में ही हो। विवेक यही कहता है कि जो भी कुछ धन ढलती आयु वाले पुरुषों स्त्रियों के पास शेष बचे, उसे वे अपने विराट् परिवार विश्ववसुधा को ऊँचा उठाने में लगा दें।

परिवर्तनशीलास्तु रीतयः सर्वदैव ताः ।
 नवे युगे नवेनैव विधिना निर्वहेज्जनः ॥ ७७ ॥
 जीवनं स्वं समैरत्र देया स्वीकृतिरञ्जसा ।
 अनीतिगानां कार्याणां विरोधः कार्य एव च ॥ ७८ ॥
 बाह्यानि तानि कार्याणि गृहस्थान्यपि वा पुनः ।
 प्रेम्णैव व्यवहर्तव्यं सेव्याः सर्वे यथोचितम् ॥ ७९ ॥
 मोहोऽनावश्यकः कार्यः परेषु स्वेषु वाऽपि न ।
 आहारस्य च मात्रां तां वाढ्यैः क्येऽल्पां समाश्रयेत् ॥ ८० ॥

सुपाच्यानि च वस्तूनि सात्विकानि सदैव हि ।
ग्राह्याणि हृदयं नित्यं प्रसन्नं तुलितं भवेत् ॥ ८१ ॥
क्षोभं नैव व्रजेत्तत्र येषु केषु विधिष्वपि ।
न्यूनत्वमधिकारे तु कर्तव्ये विस्तरो भवेत् ॥ ८२ ॥
सन्मार्गो गंतुमेवात्र प्रेरणां सन्ततं शुभाम् ।
सर्वेभ्यस्तु जनेभ्योऽत्र निर्विशेषं प्रदीयताम् ॥ ८३ ॥
भेदं स्वस्य परस्यात्र न कुर्युः स्युश्च साधना ।
स्वाध्यायः संयमः सेवा वानप्रस्थेऽच्छमदभुतम् ॥ ८४ ॥

टीका—प्रथाएँ परिवर्तनशील हैं। नई पीढ़ी को अपने ढंग से गुजर करने की छूट देनी चाहिए। असहयोग और विरोध, अनैतिक कार्यों के करना ही चाहिए, भले ही कोई बाहर का हो या घर का। प्रेम सबसे करें। सेवा यथोचित रीति से सभी की करें, पर अनावश्यक मोह अपने-पराए किसी के प्रति भी नहीं होना चाहिए। वृद्धावस्था में आहार की मात्रा घटा दें। सुपाच्य सात्विक वस्तुएँ ही ग्रहण करें। मन को प्रसन्न एवं संतुलित रखें। जिस-तिस बात पर खीजें नहीं। कर्तव्य क्षेत्र का विस्तार करें और अधिकार को समेटें। सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा सभी को समान रूप से देते रहें। इसमें अपने-पराए का अंतर न करें। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा का कार्य वानप्रस्थ मनःस्थिति में ही भली प्रकार बन पड़ते हैं ॥ ७७-८४ ॥

वृद्धों को पुरानी लीक से नहीं बँधे रहना चाहिए। समय के साथ चलना सीखना चाहिए। दो पीढ़ियों में जो आयु का अंतर है, वह विचारों-मान्यताओं का अंतर न बन जाए, इसका सदा ध्यान रहे। यदि युवक अपनी राह चलना चाहते हैं, तो उन्हें सही दिशा तो देनी चाहिए, किंतु उनके मार्ग में अपनी दुराग्रही मान्यताओं के रोड़े नहीं अटकाने चाहिए। उनकी भावनाओं का सम्मान हो। घर वालों के प्रति स्नेह स्वाभाविक है, पर यह एक सीमा तक ही उचित है। अतिशय मोह तो पुत्रेष्णा-वितेषणा का रूप लेकर नारकीय गर्त में ले जाता है। सभी अपने हैं, यह मानकर सबको सत्परामर्श दें। मन सदैव शांत हो। किसी के कहे पर अनावश्यक मनमुटाव बढ़ाना ठीक नहीं। गरिमा इसी में है कि अपना बड़प्पन बनाए रखा जाए। श्रेष्ठ कार्य करने को तो सारा जीवन है। किंतु वानप्रस्थाश्रम हर दृष्टि से साधना के लिए उचित समय है।

आत्मानं चाधिकं सेवाभाविनं संयमान्वितम् ।
उपकाररतं चैवमुदारं कुर्वतो भवेत् ॥ ८५ ॥
परलोकोऽपि शांतः स सुखयुक्तश्च सर्वदा ।
हितं स्वस्य जनानां च स्वानामपि भेदध्रुवम् ॥ ८६ ॥
व्यतीतार्धवयोभिस्तु वृद्धैरपि जनैरिह ।
अनुभूतमिवाद्याशु प्रकाशो नव्य उत्तमः ॥ ८७ ॥

यौवनं नवमेवैतद् भविष्यन्नवमेव च ।
नवः कार्यक्रमश्चैव यथा तैराप्यतेऽद्य तु ॥ ८८ ॥
वार्ता प्रचलनाऽभावे नैवाप्ताया स्वयं तु तैः ।
हितैरपि न कैश्चित्तु बोधिताऽधिगता तु सा ॥ ८९ ॥
अन्वभूवन समे पर्वस्नानस्यात्र तथैव च ।
फलं तीर्थस्य यात्रायाश्चापि प्रत्यक्षमुत्तमम् ॥ ९० ॥
परामर्शमिमं सर्वे कर्तुं कार्यान्वितं च ते ।
निश्चयं चक्रुस्त्रैके बहवो गंतुमुत्सुकाः ॥ ९१ ॥
वानप्रस्थे व्रतं दिव्यं कर्तुं संस्कारकालजम् ।
पुण्यस्थाने मुहूर्ते च चेच्छां व्यक्तां व्यधुर्नराः ॥ ९२ ॥
तेषां कृते द्वितीयेऽह्नि प्रातः संस्कारकं विधिम् ।
वानप्रस्थस्य कर्तुं सा व्यवस्था सूचिताऽपि च ॥ ९३ ॥

टीका—अपने को अधिकाधिक संयमी, सेवाभावी और उदार परोपकारी बनाते चलने से परलोक सुख शांतिमय बनता है। अपना तथा संबंधियों का भी हित होता है। अंधेड़ों और वयोवृद्धों ने आज के प्रवचन में ऐसा अनुभव किया, मानों उन्हें नया प्रकाश यौवन, नया भविष्य और नया कार्यक्रम मिला हो। प्रचलन के अभाव में जो बात उन्हें अपने आप नहीं सूझी, किसी हितैषी ने भी नहीं सुझाई, वह इन्हें आज के प्रवचन द्वारा उपलब्ध हुई। उनसे अनुभव किया कि पर्व स्नान का, तीर्थयात्रा का पुण्य फल उन्हें प्रत्यक्ष मिल गया। उनसे इस परामर्श को तत्काल क्रियान्वित करने का निश्चय किया। कितने ही वानप्रस्थ में प्रवेश करने का व्रतसंस्कार करने के लिए इस पुण्यस्थान में इसी मुहूर्त में करने की इच्छा प्रकट करने लगे। उनके लिए दूसरे दिन प्रातः काल वानप्रस्थ संस्कार विधिवत् कराने की व्यवस्था सुना दी गई ॥ ८५-९३ ॥

आत्मसंयम की साधना जब लोकसेवा के साथ-साथ चलती है, तो अपना हित साधन तो होता ही है, यह जीवन भी श्लाघ्य बन जाता है, आगे वाले जन्मों के लिए संस्कारों की निधि एकत्र कर ली जाती है। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। जो लोग यह सोचते हैं कि परमार्थ से मात्र दूसरों का ही कल्याण होता है, स्वयं को मरना-खपना अलग पड़ता है, उनके लिए यहाँ एक क्रांतिकारी विचार देते हुए ऋषि कहते हैं कि परमार्थ में ही स्वार्थ निहित है। निश्चित ही सुग्राह्य प्रतिपादनों के साथ प्रस्तुत इस मान्यता ने वृद्धों के चिंतन को गहराई से प्रभावित किया।

उपदेशेन चानेन जनैर्जीवनसाधने ।
नवः प्रकाश आप्तोऽतो जीवनं तरुणायितम् ॥ ९४ ॥
युवानश्चापि तत्रत्या उत्तरार्द्धस्य चिन्तितुम् ।
विषये सज्जिता जाता वर्तमानविनिर्मितेः ॥ ९५ ॥
शुभमुत्तरमायाति तेषां बुद्धिरभूत्तदा ।
आनंदस्यातिरेकेण ह्ययोताः प्रोता इवात्र ते ॥ ९६ ॥

३.४२ प्रज्ञोपनिषद्

श्रोतारः सर्व एवैते सत्रे यातेऽवसानताम्।

विसर्जिता ययुर्वासान् गताः संयमिनामिव।

ऋषीणां तुल्यतां सर्व ऋषिरक्त धरा यतः ॥ ९७ ॥

टीका—प्रवचन से सभी ने जीवन साधना के संदर्भ में नया प्रकाश प्राप्त किया, जिससे उन्हें जीवन में तारुण्य का सा अनुभव हुआ। तरुण भी उत्तरार्द्ध की तैयारी की बात सोचने

लगे। वर्तमान के निर्माण में संयम में सुखद उभरेगा, यह उन्होंने भली-भाँति विचार लिया। आनंद से ओत-प्रोत मनःस्थिति में सभी श्रोतागण सत्र समाप्त होने पर विसर्जित हो गए। आज वह संयमी ऋषियों के तुल्य प्रतीत हो रहे थे, ऐसा क्यों न होता, जब उनकी धमनियों से ऋषियों का ही रक्त प्रवाहमान था ॥ ९४-९७ ॥

॥ इति श्री मत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते वृद्धजन माहात्म्य इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥